SJIF 2013 = 1.795
An International Peer Reviewed & Referred
Scholarly Research Journal for
Humanity Science & English Language

बहिरंग एवं अन्तरंग योग साधना

डॉ0 घनश्याम सिंह सोनी, मानव भारती विश्वविद्यालय सोलन, हिमाचल प्रदेशय

Abstract

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ये पांच अंग बहिरंग योग कहलाते हैं। यह महर्षि पतंजलि द्वारा प्रतिपादित अष्टाँग योग की प्रारम्भिक क्रमानुसार पांच सीढ़ियाँ हैं। जिनका पालन योग साधक को क्रमशः एक के बाद एक करके अपने शारीरिक अभ्यास द्वारा साधना करके अपने जीवन में साधना पड़ता हैं। अंतरंग योग में पूर्णरूप से प्रवीणता पाने के लिए अष्टाँगयोग के अन्तर्गत बहिरंग योग साधना के इन पांच अंगों में साधक को सफलता प्राप्त करना नितांत आवश्यक होता हैं। अन्यथा योग साधक बहिरंग योग के बिना अग्रिम अन्तरंग योग को साधने में असमर्थता व्यक्त करते है। जिसके परिणामस्वरूप योग साधक को अपने चरम लक्ष्य, धारणा, ध्यान, समाधि (अंतरंगयोग) को सिद्ध करने में वंचित रहकर मोक्ष प्राप्ति से अछूते रह जाते हैं। इसीलिए साधक को बहिरंग योग के प्रत्येक चरणों को बारी–बारी क्रमानुसार से अपने जीवन में व्यवहारिकता के साथ तालमेल करके, साधक को अपने आत्मिक, शारीरिक, मानसिक रूप से पालन करते हुऐ, परमध्येय समझना जरूरी माना जाता है।

अष्टांग योग पद्धति में प्रथम पांच अंगों को बहिरंग योग साधना तथा अन्तिम तीन धारणा, ध्यान, समाधि को अन्तरंग योग साधना, इसलिए भी कहते है, क्योंकि योग के लक्ष्य तक पहुँचने में धारणादि अतिशय समीप होते हैं। यम–नियम आदि अंग तो धारणादि तक पहुँचने में चित्त की शुद्धि तथा एकाग्रता करने–कराने में साधक को सहायक होते हैं। प्रधान उपदेश मुख्यतः बहिरंग योग के प्रथम और द्वितीय साधन यम–नियम में ही समाहित होने के कारण इन्हें योग साधना का आरंभिक द्वारा भी कहा जा सकता है। अतः बहिरंग चित्त को

अविद्यादि क्लेशों की शुद्धि करण तथा साधक को योगानुकुल बनाने में उपयोग है। चित्त को स्वच्छता प्रदान की जाती है। सूत्रकार ने कहा है कि चित्त–वृत्तियों के निरोध को ही योग कहा है।

Key word: - अन्तरंग योग, बहिरंग योग, अष्टाँग योग, चित्त–वृत्तियाँ, संयम।

Scholarly Research Journal's is licensed Based on a work at www.srjis.com 4.194, 2013 SJIF© SRJIS2014

बहिरंग एवं अन्तरंग योग साधना

महर्षि पतंज्जलि ने सभी योग मार्गों को मिलाकर एक पूर्ण योग साधना पद्धति का निर्माण किया है। जिसमें सभी योग मार्ग समाहित होते हैं। महर्षि पतंज्जलि ने अष्टाँग योग साधना मार्ग का निर्माण किया है। जिसमें कर्म, भक्ति, ज्ञान, और राजयोग पूर्णरूप से समाहित हैं। कुछ एक विद्वान तो उनके अष्टाँग योग मार्ग को ही राजयोग के नाम से ही पुकारते हैं, क्योंकि इनके अष्टाँग योग में भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग और राजयोग समाहित हैं। जैसे :– यम, नियम का पालन कर्मयोग के अर्न्तगत भी आता है। ईश्वर–प्रणिधान प्रत्यक्ष रूप से ही भक्तियोग है। स्वाध्याय ज्ञानयोग का मुख्य अंग है। समाधि को तो राजयोग कहा ही जाता है।

यमनियमासनप्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽ्गाष्टावँगानि ।।

योगद र्शन 2/26

अर्थात् :– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यह योग के आठ अंग हैं। इन आठ अंगों में पहले पांच को बहिरंग कहते हैं, क्योंकि उनका वि ोशतयः बाहर की क्रियाओं से ही सम्बन्ध है। शेष तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अंतरंग हैं। इसका सम्बन्ध केवल अन्तःकरण से होने के कारण इनको अंतंरग कहते हैं। महर्षि पतंज्जलि ने एक साथ इन तीनों को संयम भी कहा है। जैसे :–

त्रयमेकत्र संयमः ।। योगद र्शन 3/4

यम :– अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।। **योगसूत्र 2/3**

अर्थात् :– अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन पांचों का ही नाम 'यम' कहलाता है। यम के पाँच प्रकार होते हैं। जैसे :–

- अहिंसा।
- सत्य।
- अस्तेय।
- ब्रह्मचर्य।
- अपरिग्रह।

अहिंसा :– किसी भूत और प्राणी को या अपने को भी मन, वाणी और भारीर द्वारा कभी भी किसी प्रकार से किंचित् मात्र भी कष्ट न पहुँचाने का नाम ही 'अहिंसा' कहलाता है।

सत्य :– अन्तःकरण और इन्द्रियों द्वारा जैसा नि''चय किया गया हो, हित की भावना, कपट रहित प्रिय शब्दों में वैसा का वैसा ही प्रकट करने का नाम 'सत्य' कहलाता है।

अस्तेय :– मन, वाणी, शरीर द्वारा किसी भी प्रकार वस्तु को न चुराना, न लेना और न छीनना अस्तेय है।

ब्रह्मचर्य :– मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाले काम–विकार के सर्वथा अभाव का नाम ब्रह्मचर्य कहलाता है।

अपरिग्रह :– भाब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि किसी भी योग सामग्री का संग्रह न करना अपरिग्रह है।

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ।। योगसूत्र 2/39

अर्थात् :– अपरिग्रह के स्थिर होने पर अर्थात् विषय लोक पदार्थों के संग्रह का भलीभाँति त्याग होने पर वैराग्य और उपरति होकर मन का संयम होता है, और मनः के संयम से भूत, भविष्यत, वर्तमान जन्मों का और उनके कारणों का ज्ञान हो जाता है।

इन पांचों यमों का सभी जाति, देश और काल में पालन होने से एवं किसी भी निमित प्रकार से इनके विपरित हिंसादि दोषों के न घटने से इनकी गिनती सार्वभौमिक महाव्रतों में हो जाती है। जैसे :–

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महावतम्।। योगसूत्र 2/31

अर्थात् :– जाति, देश, काल और निमित से अविच्छिन्न 'यम' का सार्वभौम पालन महाव्रत होता है। सार्वभौम के निम्नलिखित भाग है। जैसे :–

जातिगत सार्वभौम महाव्रत :– मनुष्य और मनुष्येत्तर स्थावर जगम् प्राणी, हिन्दू–मुसलमान, सनात्तनी–असनात्तनी आदि भेदों से किसी के साथ भी यमों के पालन में भेद न करना। जातिगत सार्वभौम महाव्रत है।

कालगत सार्वभौम महाव्रत :– वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिवस, मूहूर्त, नक्षत्र एवं पर्व–अपर्व आदि के भेदों से यम के पालन में किसी प्रकार भी भेद न करना या रखना, कालगत सार्वभौम महाव्रत कहलाता है।

समयानुगत सार्वभौम महावत :– यज्ञ, देव–पूजन, श्राद्ध, दान, विवाह, न्यायालय, क्रय–विक्रय, आजीविका आदि के भेदों से यम के पालन में किसी प्रकार का भेद न रखना। समयानुगत सार्वभौम महाव्रत है।

अभिप्राय यह है कि किसी देश अथवा काल में, किसी जीव के साथ, किसी भी निमित्त से, हिंसा, असत्य, चोरी आदि का आचरण न करना तथा परिग्रह आदि न रखना सार्वभौम महाव्रत है।

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम् ।। योगसूत्र 2/33

अर्थात् :– हिंसादि वितर्कों से बाधा होने पर प्रतिपक्ष का चिन्तन करना चाहिए।

वितर्को हिसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभः क्रोधः मोह पूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तथला इति प्रतिपक्षभावनम्।।

योगसूत्र 2/34

अर्थात् :– कृत, कारित और अनुमोदित भेद से, लोभ, मोह और क्रोध के हेतू से मृदु, मध्य और अधिमात्र स्वरूप से ये हिंसादि वितर्क, अनन्य दुःख और अज्ञान रूपी फल को देने वाले हैं, ऐसी भावना का नाम प्रतिपक्ष भावना है। अर्थात् हिंसादि दोष, अनन्त अज्ञान रूप फल को देने वाले हैं। इस प्रकार की बारम्बार भावना करने का नाम प्रतिपक्ष भावना है। हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, लोक पदार्थों का संग्रह, अपवित्रता की वृत्ति एवं तपः, स्वाध्याय तथा ईश्वर–प्रणिधान के विरोधः की वृत्ति ही इनका वितर्क है। उपर्युक्त हिंसादि को मन, वाणी, शरीर द्वारा स्वयं

करने का नाम कृत, दूसरों के द्वारा करवाने का नाम कारित और अन्यों के द्वारा किये जाने वाले हिंसादि समस्त दोषों को समर्थन, अनुमोदन या उनमें सम्मति का नाम अनुमोदित है। उपर्युक्त तीनों प्रकार के हिंसादि समस्त दोषों के होने में लोभ, क्रोध और मोह। यह तीन हेतु हैं। यह तीनों प्रकार के दोष तीन हेतुओं से बनने वाले होने के कारण नौ तरह के हो जाते हैं। आसक्ति या कामना से उत्पन्न होने वाले हिंसा, असत्यादि दोषों में लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, वैरादि से उत्पन्न होने वाले दोषों में क्रोध और मूढ़ता ही है।

नियम :– शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।। **योगसूत्र 2/32**

अर्थात् :– पवित्रता, संतोश, तपः, स्वाध्याय और ई वर–प्रणिधान ये पांच नियम हैं। जैसे :–

- **पवित्रता (शौच)**
- **संतोष**
- **तपः**
- **स्वाध्याय**
- **ईश्वर–प्रणिधान**

शौच :– पवित्रता दो प्रकार की होती है। जैसे :– **(क)** बाह्य पवित्रता (शौच)

(ख) अभ्यान्तर पवित्रता (शौच)

बाह्य पवित्रता (शौच) :– जल मिट्टी से शरीर की, स्वार्थ त्याग से व्यवहार और आचरण की तथा न्यायोपार्जित द्रव्य से प्राप्त सात्विक पदार्थों की पवित्रता पूर्वक सेवन से आहार की, यह बाहरी पवित्रता है।

अभ्यान्तर पवित्रता (शौच) :– अपना हित, ममता, ईर्ष्या, भय और काम क्रोधादि भीतरी दुर्गुणों के त्याग से भीतरी पवित्रता होती है।

शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।। योगसूत्र 2/40

अर्थात् :– पूर्णतयः बाहर की अपवित्रता से अपने अंगों में घृणा और अन्य मनुष्यों के संःसर्ग का अभाव होता है, क्योंकि दूसरे शरीरों में अरूचि हो जाने से उनका संःसर्ग नहीं किया जाता।

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येद्रियजयोद्रियजयात्मदर्शनर्योयत्वानिच ।। योगसूत्र 2/41

अर्थात् :– अन्तःकरण की पवित्रता से मन की प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियों पर विजय और आत्मा के साक्षात् दर्शन करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

संतोष :– सुःख–दुःख, लाभ–हानि, यश–अपयश, सिद्धि–असिद्धि, अनुकूलता–प्रतिकूलता आदि के प्राप्त होने पर सदा–सर्वदा संतुष्ट–प्रसन्नचित रहने का नाम ही 'संतोष' है।

संतोषादनुतमसुःखलाभः।। योगसूत्र 2/42

अर्थात् :– संतोष से सर्वोत्तम सुःख की प्राप्ति होती है।

तप :– मन और इन्द्रियों के संयम रूप का धर्म पालन करने के लिए सहने का और तितिक्षा एवं व्रतादि का नाम 'तप' है।

- **शारीरिक तपः :–** जैसे : शीत–उष्णः से कभी भी खिन्न न होना, प्राणी मात्र की सेवा, परोपकार करना, भारीर को जो आहार प्राप्त हो, उसी से सन्तुश्ट रहना, व्रत, उपवास आदि करना।
- **मानसिक तपः :–** हिंसात्मक कलिष्ठ भावनाओं को त्यागकर, शुद्ध विचारों को मनः में धारण करना चाहिए।
- **वाचिक तपः :–** सत्य, प्रिय–भाषण, औरों का सम्मान करना, वाणी से कटु शब्द न निकालना तथा झूठ न बोलना, मौन व्रत धारण करना आदि वाचिक तपः में आते हैं।

कायोन्दियसिद्धिरशुद्धिक्षयातपससः ।। योगसूत्र 2/43

अर्थात् :– तपः से मलदो ा अर्थात् पापों का नाश हो जाने पर अणिमादि अष्टः काय की सिद्धियाँ और दूर से देखने–सुनने आदि इन्द्रियों की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

स्वाध्याय :–

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।। योगसुत्र 2/45

कल्याणप्रद शास्त्रों का अध्ययन और इश्टदेव के नाम का जाप तथा स्त्रोतादि पठन–पाठन एवं गुणानुवाद करने का नाम 'स्वाध्याय' है। वेदशास्त्र उपनिषद एवं आध्यात्मिक सम्बन्धी विवेक ज्ञान उत्पन्न करने वाले शास्त्रों का पठन–पाठन, मनन् करना, शास्त्रों में

लिखित निंदनीय कर्मों का त्याग करना, ुभ काम करना अथवा गायत्री मंत्र का जाप करना ही स्वाध्याय है।

ईश्वर–प्रणिधान :– मन, वाणी और कर्म से भगवान की भक्ति जैसे :– नाम, रूप, गुण, लीला प्रभाव आदि का श्रवण, कीर्त्तन, मनन् करके सब वृत्तियों को भगवान में समर्पण कर देना। शरीर, इन्द्रियाँ, मनः, अन्तःकरण, प्राण को एवं उनसे होने वाले कर्मों तथा उनके परिणामों को बाह्य और अभ्यान्तर जीवन को भगवान में समर्पण कर देना, ईश्वर के विशेष अर्थ को अपनी भावना सहित मानसिक जाप करना, ईश्वर–प्रणिधान उपासना के अन्दर ही है। यह सब अंग तपः, स्वाध्याय, ईश्वर–प्रणिधान, योग के अश्टाँगमार्गों में ही समाहित हैं। अतः यह क्रियायोग कहलाता है। ईश्वर–प्रणिधान से समाधि की सिद्धि होती है।

तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिध्यानानिक्रियायोगः।। योगसूत्र 2/1

अर्थात् :– आवश्यक है कि हम सच्चे मनः से पूर्ण रूप से इसका पालन कर सके। जिसके फलस्वरूप हम क्रियायोग का लाभ प्राप्त कर सकते हैं। इसमें पहली क्रिया को चित्त की शुद्धि का सरल उपाय बतलाया गया है। साधारण साधकों के लिए यह क्रियायोग माना जाता है। तपः, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान के क्रियायोग में प्रवृत होने के लिए पहले शरीर, प्राण, इन्दियों और मन को तपः आदि क्रियाओं से इस योग्य बनाना चाहिए कि जिससे साधक शीत–उष्ण, भूख–प्यास, सु:ख–दु:ख आदि द्वन्द्वों की अवस्था में बिना–विक्षेप मुखि योगमार्ग में प्रवृत्त रह सकें। योगमार्ग से तामसि तपः, जिससे भारीर आदि में पीड़ा, इन्दियों में विकार चित्त में दु:ख हो, वह नहीं करना चाहिए। महर्षि पतंज्जलि महाराज ने सबसे पहले योगसूत्र में तपः साधना का उपदे ा दिया है।

जैसे :– तप, जिस प्रकार धातु को अग्नि में तपाने से शुद्ध हो जाती है, उसी प्रकार शारीरिक, मानसिक, वाचिक तपः से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है।

आसन :– आसन अनेकों प्रकार के हैं। उनमें से आत्म–संयम चाहने वाले पुरूष के लिऐ सिद्धासन, पद्यमासन और स्वास्तिकासन, यह तीनों बहुत ही उपयोगी माने गऐं हैं। इनमें से कोई सा भी आसान हो, परन्तु अपनी मेरूदण्ड, मस्तक और ग्रीवा को सीधा अवश्य रखना चाहिए और दृष्टि नासिकॉग्र पर अथवा भृकुटी में रखनी चाहिए। आलस्य न सतावें तो आँखें

मूंदकर भी बैठ सकते हैं। जिस आसन से जो पुरूष सु:खपूर्वक दीर्घकाल तक बैठ सके, वही उसके लिये उत्तम आसन होता है।

स्थिर सु:खमासनम्। योगसूत्र 2/4

अर्थात् :– सु:खपूर्वक स्थिरता से बहुत काल तक बैठने का नाम 'आसन' है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापतिभ्याम् ।। योगसूत्र 2/47

अर्थात् :– शरीर की स्वभाविक चेष्टा के शिथिल करने पर अर्थात् इनमें उपराम होने पर अथवा अनन्त परमात्मा में मनः के तन्नमय होने पर आसन की सिद्धि होती है। कम से कम एक बार में तीन घंटे तक एक आसन में सु:खपूर्वक, स्थिर और अचल भाव से बैठने को आसनसिद्धि कहते हैं।

आसन सिद्धि का फल :ततोद्वन्द्वानभिघातः ।। योगसूत्र 2/48

अर्थात् :– आसनों की सिद्धि से शरीर पूर्ण रूप से संगत हो जाने के कारण शीतोष्णादि द्वन्द्व कभी भी बाधक नहीं बनते हैं।

प्राणायाम (कुम्भक) :– इसकी विधि यह है कि चार प्रणवः से पूरक करें सोलह से आभ्यन्तर कुम्भक करें, फिर आठ से रेचक करें, इस प्रकार पूरक रेचक करते–करते सू:खपूर्वक, प्राणायाम (कुम्भक) का अभ्यास करें। यहाँ अपने प्राणों को रोकने का नाम 'स्तम्भवृत्ति' प्राणायाम है।

इनके और भी बहुत से भेद हैं। जितनी संख्या और जितना काल पूरक में लगाया जाए उतनी संख्या और काल रेचक तथा कुम्भक में भी लगा सकते हैं। प्राणायाम का नाम हृदय कंठ या नासिका के भीतर के भाग तक का नाम आभ्यन्तर देश है, और नासिक–पुट से वायु का बाहर सोलह अंगुल तक बाह्य देश है। जो साधक पूरक प्राणायाम करते समय नाभि तक श्वास को खींचता है, वह चार अंगुल बाहर तक श्वास फैंके। इनमें पूर्व से उत्तर वाले को सूक्ष्म और पूर्व से पूर्व वाले को दीर्घ प्राणायाम समझना चाहिए। जैसे :– चार प्रणव से पूरक करते समय एक सेंकण्ड समय लगा तो, सोलह प्रणव से कुम्भक करते समय चार सेंकड और आठ प्रणव से रेचक करते समय दो सेकण्ड समय लगना चाहिए। मंत्र की गणना का नाम संख्या या मात्रा है। इसमें लगने वाले समय का नाम काल है। यदि सु:ख पूर्वक हो सके तो साधक ऊपर बताये काल या मात्रा को दुगनी, तिगुनी, चौगुनी या जितनी चाहे यथा साध्य बढ़ा–घटा

भी सकता है। काल और मात्रा की अधिकता एवं न्यूनता से भी प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।। योगसूत्र 2/51

अर्थात् :– बारह और भीतर के विषयों के त्याग से होने वाला जो केवल, कुम्भक होता है, उसका नाम चत्तुर्थ प्राणायाम है। शब्द स्पर्शादि, जो इन्द्रियों के बाहरी विषय हैं, और संकल्प जो अन्तःकरण के विषय, उनके त्याग से उनकी उपेक्षा करने अर्थात् विषयों का चिन्तन न करने पर प्राणों की गति का जो सतत् ही अवरोध होता है, उसका नाम चत्तुर्थ प्राणायाम है।

प्राणायामों में, प्राणों के निरोध से मनः का संयम है, और यहाँ मनः और इन्द्रियों के संयम से प्राणों का संयम होता है। यहाँ प्राणों के रूकने का कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है। जहाँ कहीं भी रूक सकते हैं, तथा काल और संख्या का भी विधान नहीं है।

प्राणायाम का फल :–ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।। योगसूत्र 2/52

अर्थात् :– उस प्राणायाम के सिद्ध होने पर विवेकज्ञान को आवृत्त करने वाले पाप और अज्ञान का क्षय हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः।। योगसूत्र 2/53

अर्थात् :– प्राणायाम की सिद्धि से मनः स्थिर होकर, उसकी धारणाओं के योग्य सामर्थ्य हो जाता है।

प्रत्याहार :–स्वविषयासम्प्रयोगे चितस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणो प्रत्याहारः।। **योगसूत्र 2/54**

अर्थात् :– अपने–अपने विषयों के संग से रहित होने पर, इन्द्रियों का चित्त के रूप में अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है। प्रत्याहार के सिद्ध होने पर साधक को बाह्य विषयों का ज्ञान ही नहीं रहता है, और व्यवहार के समय साधक शरीर यात्रा के हेतू से प्रत्याहार, अपने आप ही उसके अर्न्तगत आ जाता है।

प्रत्याहार का फल :–ततः परमावश्यतोन्द्रियाणाम् ।। योगसूत्र 2/55

अर्थात् :– उस प्रत्याहार से इन्द्रियाँ अत्यन्त वश में हो जाती हैं, अर्थात् इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

धारणा :– योग के आठ अंगों में बहिरंग साधनों का वर्णन होने के बाद, अब तीन अंतरंग साधनों का वर्णन करते हैं। अंतरंग योग साधना का प्रथम अंग आता है। 'धारणा'। यह अष्टाँगयोग का छःटा अंग है।

देशबन्धश्चितस्य धारणा ।। योगसूत्र 3/1

अर्थात् :– चित्त को किसी एक दे''ा–वि''ोश में स्थिर करने का नाम 'धारणा' है। अर्थात् स्थूल–सूक्ष्म या बाह्य–अभ्यान्तर, किसी एक ध्येय स्थान में चित्त को बांध देना, स्थिर कर देना अर्थात् लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

ध्यान :– तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।। योगसूत्र 3/2

अर्थात् :– धारणा से ध्येय को साध कर किसी वस्तु में चित्त–वृत्ति की एकातानता का नाम 'ध्यान' है। अर्थात् चित्त–वृत्ति का गंगा के प्रवाह की भाँति या तेल की धारावत् प्रवाह जैसा एक अविच्छिन्न रूप से निन्तर अपनी ध्येय वस्तु में ही (अनवरत) लगातार एकतानता से लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

समाधि :– मतदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।। योगसूत्र 3/

अर्थात् :– वह ध्यान ही समाधि हो जाता है, जिस समय केवल ध्येय स्वरूप का ही भाव होता है, और अपने स्वरूप के भाव का अभाव सा रहता है। ध्यान करते–करते जब योगी का चित्त ध्येयाकार को प्राप्त हो जाता है, और वह स्वयं भी ध्येय में तन्नमय सा बन जाता है, ध्येय से भिन्न होकर अपने–आपका भी ज्ञान उसे नहीं रह जाता है, उस स्थितिः का नाम ''समाधि'' है। ध्यान में ध्याता, ध्यान, ध्येय की यह त्रिपुटी रहती है, अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय इन तीनों की एकता सी हो जाती है।

महर्षि पतंज्जलि योग की परिभाषा देते हुए कहते हैं। जैसे :– योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।।

पातंज्जल योगसूत्र 1/2

अर्थात् :– चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है। इस परिभाषा में चित्त–वृत्ति और निरोध इन तीनों शब्दों का प्रयोग किया गया है। चित्त का तात्पर्य 'अन्तःकरण' अर्थात् मनः, बुद्धि एवं अंहकार से होता है। यही तीनों आत्मज्ञान के मुख्य साधन हैं। ज्ञान की प्रक्रिया में सर्वप्रथमतः इन्द्रियों के माध्यम् से मनः विषयों के सम्पर्क में जाता हैं, और उसमें संकल्प–विकल्प

आते–जाते रहते हैं। बुद्धि उस विषय में निश्चय करती है, और अंहकार उसमें 'स्वतुः–प्रतुः' जोड़ कर कर्त्तृत्त्व–भाव को लाते रहते हैं। आत्मा इस प्रक्रिया को साक्षी–भाव से देखती रहती है। आत्मा, ज्ञान की इस प्रक्रिया से चित्त में जो प्रतिबिम्ब बनाती है, वही वृत्ति कहलाती है। मनः में उत्पन्न हुई इस वृत्ति के बारे में योगसूत्र में कहा है। जैसे

वृत्तयः चित्त परिणाम विशेषाः।। पातंज्जल योगसूत्र।

अर्थात् :– चित्त, बाह्य और अभ्यान्तर विषयों के सम्पर्क में आकर उनके आकार का होता है, जिसे चित्त का परिणाम भी कहते हैं। इसी चित्त के परिणाम विशेष को विषयाकार होने से रोकना ही निरोधः कहा जाता है।

वृत्तियों का पूर्णतयः समाप्त होना ही 'योग' कहलाता है, क्योंकि यदि हम वृत्तियों के शाँत होने को योग कहेंगे, तो यह उचित नहीं होगा, क्योंकि वृत्तियाँ शाँत होने के पश्चात् वे पुनः से उत्त्पन्न हो सकती हैं। इसलिए हम मानते हैं कि वृत्तियों की पूर्णरूपेन समाप्ति का होना ही 'योग' कहलाता है। क्योंकि यह कहना उचित है कि समस्त वृत्तियों का निरोधः ही योग है, फिर भी, एक या एक से अधिक वृत्तियों के निरोध से ग्रंथकार का उपदेश सम्पूर्ण नहीं होता है, इसी प्रकार हम कह सकते हैं कि चित्तवृत्ति निरोध के साधनों को भी योग कहा जा सकता है, परन्तु वास्तव में पूर्णतया निरूद्ध चित्त को ही योग कहना उचित होगा। योगसूत्र में महर्षि पतंज्जलि ने द्रष्टा (आत्मा) की अपने स्वरूप में स्थित होने के बारे में कहा है।

तदादृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।। योगसूत्र।

अर्थात् :– चित्त–वृत्ति निरोध के पश्चात् द्रष्टा अर्थात् पुरूष (आत्मा) अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। द्रष्टा की यह स्वरूप में स्थिति सम्पूर्ण वृत्तियों की समाप्ति के पश्चात् ही प्राप्त होती है। इसीलिए ही चित्त–वृत्तियों के निरोध को योग कहा जाता है।